मृतक भोज की क्या आवश्यकता ?

- श्रीराम शर्मा आचार्य

मृतक भोज की क्या आवश्यकता ?

वर्तमान समय में मृतात्मा की सद्गति के लिए सात्विक दान-पुण्य के शास्त्रीय विधान के बजाय लोगों में 'मृतकभोज' की ऐसी प्रथा का प्रचलन हो गया है जो प्राचीन या नवीन किसी सिद्धांत के अनुकूल नहीं है और जिससे मृतक की सद्गति का कुछ भी संबंध नहीं माना जा सकता। ये मृतक भोज प्रायः बड़ी-बड़ी दावतों के रूप में होते हैं, जिनमें एक-एक हजार, पाँच-पाँच सौ तक सजातीय व्यक्ति और परिचित इष्ट-मित्र पूरी, मिठाई पकवान खाने को बुलाए जाते हैं। उस अवसर पर ऐसा जान पड़ता है मानो इस घर में कोई बड़ा हर्षोत्सव है, जिसके उपलक्ष्य में इतनी बड़ी संख्या में लोगों को खिलाया-पिलाया जा रहा है। भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में तो ऐसे भोजों का रिवाज कम ही है परंतु राजस्थान, पश्चिमी यू० पी०, मालवा और मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग में इनका विशेष जोर-शोर देखा जाता है। इस भू-भाग की छोटी-बड़ी सभी जातियाँ, यहाँ तक कि कई मुसलमान जातियों में भी इसका प्रचलन है।

वर्तमान समय में भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति गिरी हुई है। थोड़े से व्यवसायी लोगों या ऐसे सरकारी नौकरों को छोड़कर जिनको रिश्वत का अनाप-शनाप पैसा मिलता है, शेष सब लोग अपना निर्वाह कठिनाई के साथ ही करते हैं। खाना, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य-रक्षा, शिक्षा, यात्रा आदि की ठीक व्यवस्था कर सकें ऐसे सौभाग्यशाली परिवार सौ में से पच्चीस भी कठिनता से निकलेंगे। शेष लोगों को सदैव किसी न किसी बात का अभाव बना ही रहता है। अनेक लोग अपने बच्चों की शिक्षा पर खरच करने की सामर्थ्य नहीं रखते और कितने ही बीमार होने पर दवादारू के लिए भी तरसते रहते हैं। ऐसे भी करोड़ों व्यक्ति मौजूद हैं जिनको दोनों वक्त पेटभर रोटी नसीब नहीं हो पाती। ऐसी दशा में किसी तरह का

अनावश्यक व्यय किसी भी गृहस्थ व्यक्ति के लिए भारस्वरूप ही सिद्ध होगा।

हिंदू समाज में पहले तो लड़के-लड़कियों के कई प्रकार के संस्कार विवाह आदि में ही इतना खरच करना पड़ता है कि उनकी आर्थिक व्यवस्था निरंतर कठिन बनी रहती है। इसके सिवाय नाते-रिश्ते के लेन-देन, तरह-तरह की रस्में और नेग-जोग में भी समय-समय पर कुछ खरच करते ही रहना पड़ता है। ऐसी दशा में यदि मृतक भोज का भी अनावश्यक भारी व्यय ऊपर लाद दिया जाए तो इसे बुद्धिमानी का चिन्ह नहीं समझा जा सकता। इससे हमारी पहले से ही अस्त-व्यस्त आर्थिक दशा और भी शोचनीय हो जाएगी। हम जीवन निर्वाह के अत्यावश्यक कार्यों की भी पूर्ति न कर सकेंगे और हमको अपने परिवार सहित भयंकर संकटों का सामना करना पड़ेगा।

इस प्रकार की गलती समझदार लोग भी क्यों करते हैं? इसका एकमात्र कारण यही जान पड़ता है कि वे अपना बड़प्पन दिखाने के लिए या अपनी 'नाक ऊँची' रखने के उद्देश्य से ही ऐसा करते हैं। मृतक भोज के मूल में प्रायः यही भावना काम करती है। जब अन्य लोगों ने अपने बाप-दादे के मरने पर इतना बड़ा भोज दिया तो हमको भी देना चाहिए। यदि हम इसमें कमी करेंगे या इसे बंद कर देंगे तो हमारी बदनामी होगी या लोग हमें कंजूस या कंगाल समझेंगे। इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर और दूसरे लोगों द्वारा बढ़ावा दिए जाने पर वे अपनी हैसियत न होने पर भी मृतकभोज या 'नुक़ते' के नाम पर इतना अधिक खरच कर डालते हैं जिससे उनकी आर्थिक स्थिति लड़खड़ा जाती है, वे सदा के लिए कर्ज के बोझ से दब जाते हैं और उन्नति करने के बजाय अवनति के मार्ग पर फिसलने लगते हैं।

अनेक बार इसमें बदले की भावना का भी समावेश हो जाता है और यह विचार आता है कि जब हम दूसरों के यहाँ मृतक भोजों में जाकर पूरी, मिठाई खा चुके हैं तो हमको भी उन्हें खिलाना पड़ेगा। आस-पास के इष्ट-मित्र, विशेषतः जाति के पंच चौधरी कहलाने वाले इन विचारों को प्रोत्साहन देते हैं और प्रायः दबाव डालकर भी 'नुकता' करा देते हैं। राजस्थान में तो इनकी ऐसी

प्रबलता है कि उनके दबाव से लोगों को अपना घर-द्वार बेचकर, कर्ज लेकर भी मृतकभोज करना पड़ता है। जिस परिवार में कमाने वाला मुख्य व्यक्ति मर गया है और अपनी विधवा पत्नी तथा दो-चार छोटे बच्चों को निराश्रित छोड़ गया है, उससे भी ये निष्ठुर लकीर के फकीर मृतकभोज करा लेते हैं। नतीजा यह होता है कि बाद में उस विधवा को अपने बच्चों सहित दाने-दाने के लिए तरसना पड़ता है और मेहनत-मजदूरी करके किसी तरह जीवन व्यतीत करना पड़ता है। यदि कोई विवशतावश उनके आदेश का पालन नहीं कर सकता तो उसको जाति बहिष्कार का दंड देकर अत्यंत दुर्दशा की जाती है। हिंदी के प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'विश्व मित्र' के संस्थापक श्री मूलचंद अग्रवाल की आत्मकथा में हमने पढ़ा है कि उनके पिता पर कर्ज हो जाने के कारण वे कुएँ में कूदकर मर गए थे। जब उनकी विधवा गरीबी के कारण प्रायश्चित और भोज आदि न करा सकी तो उनको जाति बहिष्कृत करके ऐसे कष्ट दिए गए कि उनका स्मरण करके ऐसे क्रूर लोगों के प्रति अत्यंत घृणा की भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार की प्रथा या परंपरा को अमानुषी ही कहा जा सकता है और उसका जितना शीघ्र अंत हो सकता हो उतना ही अच्छा है।

अब हम मृतकभोज की प्रथा के मूलस्वरूप और उसकी वास्तविकता पर विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि उसकी जड़ में कोई धार्मिक सिद्धांत या तथ्य नहीं है। हमारे धर्मशास्त्रों में तो आत्मा को अमर माना गया है। उनका कथन है कि हमारा यह दिखाई पड़ने वाला पंच भौतिक देह नष्ट हो जाता है, तो आत्मा का उसके साथ अंत नहीं हो जाता वरन यह किसी रूप में कहीं न कहीं स्थित रहता ही है। कई पुराणों में बतलाया गया है कि मृतात्मा दूसरा जन्म ग्रहण करने के पहले कुछ समय तक परलोक में रहकर अपने भले-बुरे कर्मों का फल भोगती है। उसमें एक पितृलोक का भी उल्लेख किया गया है, जहाँ सभी मृतात्माएँ एक बार जाती हैं। वेदों में भी पितृयान ओर देवयान मार्गों का जिक्र आया है, यद्यपि उनमें पुराणों की तरह उसका विस्तार नहीं है और न सदैव श्राद्ध आदि कर्म करते रहने का विधान है।

मरणोत्तर जीवन की वास्तविकता को मालूम कर सकना एक नजर में एक प्रकार से अंसभव है। अन्य धर्मों के विद्वानों की बात तो छोड़ दीजिए। स्वयं हिंदू धर्म के आचार्यों ने ही उसके संबंध में जो कुछ कहा है एकदूसरे से सर्वथा पृथक है। जहाँ पौराणिक विद्वान स्थायी पितृलोक की कल्पना करके मृतात्मा के नाम पर, सदैव जलपान, पिंडदान, ब्राह्मण भोजन आदि को आवश्यक बतलाते हैं, वहाँ वेदांत, सांख्य और सिद्धांतों के अनुयायी आत्मा को इस प्रकार के बंधनों से सर्वथा अलग मानते हैं और आश्रम-धर्म के अनुसार भी संन्यास ग्रहण करके त्याग करने वालों के लिए एकादशी, तेरहवीं, वार्षिक श्राद्ध आदि सब क्रिया-कांडों को अनावश्यक बतलाया गया है। प्रत्यक्ष देखने में भी आता है कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, तुलसीदासजी, सूरदास, रामकृष्ण परमहंस, दयानंदजी, विवेकानंद, रामतीर्थ, महात्मा गांधी आदि महापुरुषों आदि का प्रतिवर्ष श्राद्ध नहीं किया जाता न उनको तर्पण और न पिंडदान आदि किया जाता है तो क्या वे परलोक में दुर्दशा ही भोग रहे होंगे?

फिर भी हम साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिए इनको अनुचित नहीं समझते कि वे अपने परिवार के मृत व्यक्तियों के नाम पर शास्त्रों के विधानानुसार कुछ दान-पुण्य करें। एक तो इससे मृतात्मा के संबंधियों को कुछ सांत्वना प्राप्त होती है कि ऐसा करने से और दूसरे अधिकांश व्यक्ति जो जीवन भर सांसारिक मायामोह में पड़े रहकर सब प्रकार के उत्तम, मध्यम कार्य करते हैं, उनकी आत्मा इस प्रकार के क्रिया-कलापों से कुछ सहायता भी पा सकती है। इसी दृष्टि से किसी व्यक्ति का देहांत होने पर वेदमंत्रों तथा सुगंधित सामग्री तथा घृत की आहुतियों के साथ उसका अंत्येष्टि संस्कार करने का नियम है। फिर दस दिन बाद पिंडदान, तर्पण, श्राद्ध, गृह-शुद्धि आदि की क्रियाएँ की जाती हैं। इन सबके साथ दीनजनों की सेवा अथवा अन्य लोक-हितकारी कार्यों के लिए विश्वस्त संस्थाओं या सत्पात्र व्यक्तियों को दान देना भी प्रशंसनीय माना गया है। इसके लिए वर्तमान समय में जो कुछ भोजन कराना या दान देना होता है, वह सब ब्राह्मणों को ही दिया जाता है, क्योंकि किसी जमाने में वे ही सच्चे समाजसेवी थे और उनका समस्त

जीवन लोक-कल्याण के लिए उत्सर्ग होता था। इसलिए मृतात्मा की पवित्र स्मृति में दान का श्रेष्ठ अधिकारी उन्हीं को समझा जाता था, पर अब परिस्थिति के बदल जाने पर भी जो लोग उसी रूढ़ि का पालन करते हैं, वे परिश्रम तथा अर्थ व्यय करने पर मृतक श्राद्ध के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाते।

जो लोग ऐसा सोचते या कहते हैं कि इस प्रकार के मृतक भोज से मृतात्मा को कोई पुण्यफल प्राप्त होता होगा और परलोक में उसे अच्छी गति मिलती होगी वे बड़े भ्रम में हैं। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि जीव को जो कुछ अशुभ परिणाम प्राप्त होता है, वह उसके कर्मानुसार ही होता है। जो जैसा भला-बुरा करता है, उसका फल उसको अवश्य भोगना पड़ता है। कर्मफल का सिद्धांत अटल है और अपरिवर्तनीय है। गीता में अर्जुन ने भगवान कृष्ण से प्रश्न किया कि क्या जो व्यक्ति साधना करते-करते बाद में उससे च्युत हो जाता है उसका सब परिश्रम और प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है? इसका उत्तर देते हुए कृष्ण जी ने कहा—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

(गीता ६-४०)

अर्थात "हे अर्जुन! किसी भी मनुष्य का कोई शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होता और इसलिए ऐसी साधना वाला इस लोक और परलोक में अपने कर्म के परिणाम के अनुसार अच्छी गति पाता ही है।"

आगे चलकर अशुभ कर्मों के फलस्वरूप परलोक में दुर्गति होने का वर्णन भी स्पष्ट शब्दों में किया गया है।

अहङ्कार बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६, १८, १९, २०)

अर्थात "जो व्यक्ति अहंकार, बल, घमंड, लोभ और क्रोध आदि के वशीभूत होकर दूसरों से द्वेष करते हैं, उनकी निंदा करते हैं, वे पापी होते हैं। मैं उनको संसार में बारंबार सूकर-कूकर की अधम योनियों में ही गिराता हूँ। ऐसे कुकर्मी व्यक्ति जन्म-जन्म में आसुरी योनियों में पड़कर मुझ भगवान से दूर जाते हैं और घोर नरकों में पड़कर कष्ट भोगते हैं।"

इस कर्म सिद्धांत के अनुसार मृतात्मा को परलोक में जो सुख या दुःख प्राप्त होता है, वह मुख्यतः जीवित अवस्था में किए गए शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही होता है। जिनका जीवन छल, कपट, निंदा, कुत्सा, ठगी, जालसाज़ी करते बीता है उनके लिए यह आशा करना कि बहुत सा क्रिया-कर्म या विशाल मृतक भोज करने से उनके पाप मिट जाएँगे और वे परलोक में अच्छी गति के अधिकारी बन सकेंगे, स्वयं अपने को धोखा देना है। भगवान कृष्ण ने कहीं पर यह नहीं कहा है कि भोजन भट्ट-ब्राह्मणों अथवा जाति- बिरादरी वालों को खूब लड्डू-पूरी खिला देने या मृतक के नाम पर नशेबाज पंडे-पुरोहितों को बहुत सा धन, अन्न, वस्त्र, गाय, सोना, चाँदी का दान देने से उसे अच्छी गति मिल जाएगी। उन्होंने साफ बतला दिया कि जो अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष के भावों से अन्य लोगों के साथ बुरा व्यवहार करेगा, उन्हें हानि पहुँचाएगा उसे बार-बार नीच स्थिति में ही जन्म लेना पड़ता है और अपने पापों का फल भोगना पड़ता है।

हाँ, इतना संभव है कि यदि शुद्ध भाव से मृत्यु के अवसर पर और मरणोत्तर संस्कार के अवसर पर मृतात्मा के नाम पर कुछ लोक-कल्याणकारी कार्यों के लिए निःस्वार्थ भाव से दान किया जाए, राष्ट्र की प्रगति के लिए स्कूल, पुस्तकालय, उद्योग-कला विद्यालय आदि की स्थापना की जाए या जो संस्थाएँ इन कार्यों को सचाई के साथ कर रही हैं उनको सहयोग दिया जाए तो उससे मृतात्मा को कुछ शांति प्राप्त हो सकती है और परलोक में उसके कष्ट और अभावों में कमी हो सकती है। अब भी अनेक विचारशील व्यक्ति अपने पिता, पितामह, माता आदि की मृत्यु होने पर मृतक भोज करने के बजाय उसमें खरच होने वाला समस्त धन किसी

सार्वजनिक हित कार्य में खरच कर देते हैं। इस प्रथा का अवलंबन करने से मृतक भोजों में प्रतिवर्ष खरच होने वाला दो-चार करोड़ रुपया जनहितकारी कार्यों के लिए प्राप्त हो सकता है और उससे भारत की प्रगति में पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

ब्राह्मण और साधुओं को कब दिया जाए—कुछ लोग इस अवसर पर ब्राह्मण, साधु-संत, भिक्षुक आदि को दान देने पर जोर देते हैं। निस्संदेह प्राचीनकाल में यही प्रथा थी और यह समाज-कल्याण की दृष्टि से ही प्रचलित की गई थी। उस समय के ब्राह्मण और साधु पूर्णरूपेण स्वार्थ त्यागी, अपरिग्रही और लोकसेवक होते थे। वे अपना सारा समय और शक्ति सार्वजनिक हित के कार्यों में ही व्यय किया करते थे और अपने निर्वाह अथवा हानि-लाभ की किंचित मात्र चिंता नहीं करते थे। ऐसे निस्पृह लोकसेवकों के भरण-पोषण और जीवन-निर्वाह का भार स्वभावतः समाज और राज्य पर ही रहता था और इसी दृष्टि से उस समय जन्म-मरण विवाह आदि समस्त अवसरों पर ऐसे लोगों को यथाशक्ति दान देने का विधान था। वे दान लेने वाले भी अपने उत्तरदायित्वों को समझते थे और प्राप्त धन में से अपने लिए कम से कम खरच करके शेष को परोपकारार्थ ही व्यय कर देते थे। इस प्रकार समाज में सात्विक दान और त्याग की एक स्वस्थ परंपरा प्रचलित होती थी और उसके कारण अनेक असमर्थों तथा किसी आकस्मिक कारणवश विपदग्रस्त हो जाने वालों का निर्वाह बिना माँगे हो जाता था और उन्हें क्षुधा निवारण के लिए स्वाभिमान को नष्ट नहीं करना पड़ता था।

पर आज दशा इससे बिलकुल विपरीत हो गई है। अब न दान लेने वाले सुपात्र मिलते हैं और न देने वालों के मन में सात्विक भावना होती है। इस समय इस प्रथा ने एक पेशे का रूप धारण कर लिया है और इस कार्य को करने वाले चाहे जन्म से और नाम से ब्राह्मण हों, पर आचार व्यवहार की दृष्टि से उनका बहुत कुछ पतन हो गया है। उनमें तरह-तरह के दुर्व्यसन घुस गए हैं, नैतिकता और चरित्र गिरे हुए हैं और धन की खातिर वे करने न करने योग्य सभी कामों के लिए तैयार हो जाते हैं। वे जानते भी नहीं कि अध्यात्म किस चिड़िया का नाम है जबकि प्राचीनकाल में उनकी सबसे

बड़ी विशेषता यही थी। वे संसार को सर्वथा नगण्य और अध्यात्म को ही साररूप मानते थे। इस प्रसंग में हमें महाभारत की वह कथा याद आती है जिसमें एक ब्राह्मण को महाराज युधिष्ठिर ने एक बड़ी धनराशि दान देने को कहा था। वह ब्राह्मण पहले तो दान ग्रहण करने को बिलकुल तैयार नहीं हुआ, फिर राजा के बहुत अधिक आग्रह करने पर राजी भी हुआ तो बीच में ही रोने लग गया। उसे रोता देखकर युधिष्ठिर भी रो दिए और तब भगवान कृष्ण भी जो वहाँ उपस्थित थे रो पड़े। इस लीला को देखकर भीमसेन जो शांति रक्षार्थ वहाँ निरीक्षण करता हुआ आया था आश्चर्य में पड़ गया और कृष्णजी से इस रहस्य को समझाने की प्रार्थना करने लगा। उन्होंने कहा कि यह ब्राह्मण इसलिए रोया कि वह राजधन को ग्रहण करना आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रतिकूल समझता है। युधिष्ठिर इसलिए रोने लगे कि मेरा धन कितना निकृष्ट है जिसे ग्रहण करना ब्राह्मण अधर्म समझता है। मैं इसलिए रो पड़ा कि मैं देख रहा हूँ कि आज तो ब्राह्मणों में धर्म का इतना ध्यान है कि वे सात्विक राजसी दान ग्रहण करना भी बुरा समझते हैं, पर आगे चलकर ऐसा समय आएगा जबकि राजसी की क्या बात ब्राह्मण तामसी दान के लिए भी दौड़ेंगे और उसके लिए मानापमान का भी कुछ ध्यान न रखेंगे।

दान का दुरुपयोग न हो—वर्तमान समय में दान लेने वाले समुदाय का ऐसा पतन हो जाने के कारण मरणोत्तर कर्म में दान की समस्या और भी अधिक विचारणीय हो गई है। हम जिस धन को अपने किसी प्रियजन की आत्मा के कल्याणार्थ दान दे रहे हैं, यदि उसका उपयोग नशा करने, दम लगाने, भंग छानने आदि जैसे किसी दुर्व्यसन में हो या उसके द्वारा जुआ खेलने, व्यभिचार करने, ठगी-जालसाजी में भाग लेने जैसी दुष्प्रवृत्तियों की वृद्धि हो तो हमको कैसा लगेगा। इसी प्रकार जिन लोगों को भोज दिया जाता है वे भी मृतात्मा के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं रखते वरन उलटा उसकी आलोचना करके तरह-तरह की निंदा की बातें करते हैं। भोजन को खाने के बाद उसमें भी प्रायः त्रुटियाँ ही निकालते हैं। इस प्रकार मृतक श्राद्ध में इन दिनों हजार या इससे भी अधिक जितना रुपया व्यय किया जाता है, वह अकारथ ही जाता है। उससे

न किसी दूसरे की भलाई होती है और न हमारी ही कोई प्रशंसा होती है। मृतात्मा की सद्‌गति की कल्पना तो ऐसे निरर्थक अपव्यय से किसी प्रकार की ही नहीं जा सकती है?

मृतात्मा के उपलक्ष्य में दान का उचित मार्ग— भौतिक शरीर से छूटने के बाद मृतात्मा सूक्ष्म शरीर में और सूक्ष्म वातावरण में ही रहती है। परलोक एक अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व है, इस सूक्ष्म तत्त्व में अगर कोई चीज प्रभाव डाल सकती है, तो वह आध्यात्मिक भावना और तदनुकूल कार्यकलाप ही हो सकते हैं। मरणोत्तर कृत्य में ऐसी भावना तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि उसके कराने वाले पूर्ण सात्विक वृत्ति के सदाचारी और समस्त नीच विचारों से परे रहने वाले हों। ऐसे व्यक्तियों का इस समय अभाव ही दिखाई पड़ता है। प्रथम तो उच्च मनोभूमि के व्यक्ति इस क्षेत्र में आते ही नहीं और अगर कोई आ भी जाए तो उनकी संख्या इतनी नगण्य है और उनकी पहिचान इतनी कठिन है कि अब हम समयानुसार अपनी रीति-नीतियों में परिवर्तन करें और उनको उपयोगी तथा सार्थक बनाने की चेष्टा करें। दान का मुख्य उद्‌देश्य यही है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिकतम हित हो सके। अथवा किसी समुदाय विशेष का हित हो सके। इसी दृष्टि से प्राचीन समय में त्यागी और तपस्वी ऋषियों को दान के रूप में धन अर्पण किया जाता था ताकि वे उसका दुरुपयोग न होने दें और वास्तव में उन लोगों की सहायतार्थ खरच किया जाए जो सहायता पाने के अधिकारी हैं।

अब यह कार्य व्यक्तियों के बजाय सार्वजनिक संस्थाओं के जिम्मे आ गया है। यों इन संस्थाओं में भी दो-एक व्यक्ति ही प्रमुख कार्यकर्त्ता होते हैं, तो भी उनका संगठन इस प्रकार किया जाता है कि उनके कार्यों पर सभी लोगों की निगाह रहती है और जब वे कोई अनियमित कार्यवाही करती हैं तो लोग उनकी आलोचना और नुकताचीनी करने लगते हैं। इससे उनको चंदा या दान के रूप में प्राप्त धन का उपयोग करने में सावधान रहना पड़ता है। अगर कोई बेईमानी कर भी लेता है तो वह दो-एक बार ही ऐसा कर सकता है क्योंकि भेद को खुलते ही उनकी बदनामी हो जाती है और उसे अपने स्थान से राजी या दबाव से हटना पड़ता है। जो संस्थाएँ प्राप्त

धन का उपयोग ईमानदारी से नहीं कर सकतीं, वे शीघ्र ही बदनाम भी हो जाती हैं और फिर लोग उनका भरोसा नहीं करते। इसलिए संस्थाओं के लिए ईमानदारी ही ऐसा गुण है जिससे उनकी निरंतर वृद्धि होती रहती है और लोग उन पर विश्वास करके सार्वजनिक कार्यों के लिए उचित सहायता देते रहते हैं।

मरणोत्तर क्रिया की शास्त्रीय विधि—मरणोत्तर कृत्य के लिए धर्मशास्त्र के निर्देशानुसार तर्पण, पिंड, बलि आदि का संक्षिप्त कार्यक्रम पूर्ण करना ही अधिक सुविधाजनक है। किसी विद्वान और सदाचारी व्यक्ति द्वारा कर्मकांड सविधि पूरा करा सकना न तो बहुत बड़ी उलझन का काम है और न विशेष खरच का। अपनी परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उसे दस-बीस रुपए में निबटा सकता है। इसके पश्चात बारहवें या तेरहवें दिन श्राद्ध के रूप में दो-चार ब्राह्मणों को विधानानुसार सादा भोजन करा सकते हैं। बस, अंत्येष्टि और मरणोत्तर क्रिया के रूप में इतना कार्यक्रम पर्याप्त है जिससे शास्त्र का निर्देश पूरा हो जाता है और जिसका छोटे-बड़े प्रायः सभी व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार पालन भी कर सकते हैं। इसी अवसर पर मृतात्मा के उपलक्ष्य में परोपकारी और सार्वजनिक हित के कार्य संपादन करने वाली संस्थाओं को श्रद्धापूर्ण वातावरण में दान दिया जाए। यह दान अपनी शक्ति और स्थिति के अनुसार कम या ज्यादा हो सकता है, पर इसमें किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ न होने से देने वालों के ऊपर कोई दबाव नहीं पड़ता जिससे विवश होकर उसे शक्ति से बाहर खरच करने को विवश होना पड़े और उनके कारण आगामी जीवन में घोर संकट सहन करना पड़े। वर्तमान समय में प्रचलित मृतक भोज और ऊपर प्रस्तावित दान प्रणाली में यही एक बहुत बड़ा अंतर है। जो लोग आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं, वे अधिक परिमाण में दान देकर मृतक के नाम पर कोई स्वतंत्र परोपकारी कार्य छोटा या बड़ा स्कूल, पुस्तकालय आदि की स्थापना कर सकते हैं। जहाँ आवश्यकता हो वहाँ धर्मशाला, जलशाला (प्याऊ) आदि की व्यवस्था भी की जा सकती है। तात्पर्य यही है कि मनुष्य श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार उतना ही व्यय करे जिससे भविष्य में उसे किसी प्रकार परेशानी न उठानी पड़े और साथ ही कर्त्तव्य का उचित पालन

भी हो जाए। लालच या उपेक्षावश सामर्थ्य और सुविधा होते हुए भी ऐसे अवसर पर दान-पुण्य की तरफ से बिलकुल हाथ खींच लेना भी अनुचित है और उससे स्वार्थपरता, संकीर्णता और मृतात्मा के प्रति उपेक्षा भाव प्रकट होता है।

बड़प्पन की भावना वाले—एक श्रेणी उन मनुष्यों की भी होती है, जो बड़े मृतक भोज बड़प्पन की भावना से करते हैं। जब वे देखते हैं कि बिरादरी में अमुक व्यक्ति ने अपने मृत पिता या अन्य संबंधी का भोज इतना खरच करके किया जिससे उसकी बड़ी नामवरी हुई तो वे सोचते हैं कि हम भी उन्हीं के मुकाबले का या उनसे भी बढ़कर भोज दें जिससे लोग हमको बड़ा समझें और आदर-सम्मान करें। ऐसे लोग बड़ी छिछोरी बुद्धि के होते हैं। उनको ज्ञात नहीं होता कि संसार में स्थायी बड़प्पन कैसे मिल सकता है? जो अपव्यय का उपाय वे सोचते हैं उससे तो एक-दो दिन चर्चा वाहवाही हो जाती है। इन वाहवाही करने वालों में भी अधिकांश ऐसे होते हैं जो मुँह पर तो बड़ाई पर पीछे बुराई और हँसी करते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे बड़प्पन के शौकीन अपना धन भी बरबाद करते हैं और जब इसके फल से उनकी स्थिति बिगड़ जाती है तो वे दूसरों की हँसी के पात्र बन जाते हैं। उस समय भोज की प्रेरणा देने वाले और बड़प्पन का सब्ज बाग दिखाने वालों की सूरत दिखाई नहीं देती।

जब लोगों में अविद्या और मूढ़ता का अंधकार अधिक फैला था तब तो लोग ऐसे दिखाऊ कामों की तारीफ भी करते थे, पर अब वह जमाना बदल गया है। अब साधारण जनता भी प्रत्येक काम को उपयोगिता और लोकहित की कसौटी पर कसकर देखती है। पैसा बड़े परिश्रम और संयमित व्यवहार से ही एकत्रित हो पाता है। अतएव उसका उपयोग ऐसे कार्यों में ही होना चाहिए, जिससे हमारा शारीरिक, मानसिक, आत्मिक कल्याण हो सके। उसे क्षणिक वाहवाही या झूँठी, शानशौकत के कार्यों में उड़ा देना कदापि बुद्धिमानी का काम नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में प्रचलित मृतक भोज की सार्थकता ऐसे ही कामों में समझी जा सकती है, क्योंकि उससे किसी का हित तो होता ही नहीं उलटा अन्य लोगों के सामने एक

गलत उदाहरण पेश होता है और वे समर्थ न होते हुए भी इतना खरच कर बैठते हैं जिससे उनको जन्मभर दुःख उठाना और पछताना पड़ता है। इसलिए जो लोग नामवरी या बड़प्पन की खातिर बड़े-बड़े मृतक भोज करते हैं, वे अपनी ही बरबादी नहीं करते वरन दूसरों की दुर्दशा के भी कारण बनते हैं।

मरणोत्तर क्रियाकर्म में अपव्यय—मृतक भोज की तरह अनेक लोग मृतक के क्रियाकर्म में भी बहुत अधिक व्यय करते हैं। उनके नाम पर बरतन, कपड़े, बिस्तर, चारपाई आदि दान देते हैं। बहुत बड़े धनवान और राजाओं को तो घोड़ा, गाड़ी आदि दान करते देखा गया है। पुराने जमाने में मिश्र के निवासी अंधविश्वास के कारण बादशाह के मरने पर उनके साथ सब प्रकार की जीवनोपयोगी सामग्रियाँ जो बहुत ऊँचे दरजे की सुवर्ण आदि कीमती धातुओं से बनी होती थीं और जिनकी लागत करोड़ों रुपए होती थी उनकी समाधि के भीतर रख देते थे। इस प्रथा का पालन करने वाले लोगों का विश्वास होता था कि परलोक भी इस लोक की तरह ही है और वहाँ भी मनुष्यों को खाने-पीने, पहनने, सोने के लिए सब चीजों की आवश्यकता होती है। पर अब लोगों को मालूम हो गया है कि परलोक अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व से निर्मित है और वहाँ मनोभावनाओं के अतिरिक्त किसी स्थूल पदार्थ का प्रवेश नहीं है। अतएव किसी पुरोहित को वस्त्र, बरतन, बिस्तर, हाथी, घोड़ा देकर यह ख्याल करना कि इसके फल से मृतात्मा को ये वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी हद दरजे का भोलापन है। इस प्रकार की प्रथाएँ मध्यकाल में कुछ स्वार्थी और लालची पुरोहितों ने सीधे-साधे व्यक्तियों को बहकाकर प्रचलित कर दी थीं, उन्हीं का बचा-खुचा प्रभाव अभी तक अशिक्षित अथवा रूढ़िवादी लोगों में चला आया है। पर इस समय शिक्षा और विज्ञान के प्रकाश में आत्मा और परलोक के संबंध में हम जितने वास्तविक तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें देखते हुए इस लकीर को पीटते रहना निरर्थक है।

मरणोत्तर क्रियाकर्म का रूप जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, बहुत सादा होना चाहिए। उसमें बजाय खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की

बहुत अधिक सामग्री की अपेक्षा आंतरिक श्रद्धा भावना की विशेषता होनी चाहिए। शास्त्र में उस समय हवन, ईश्वर प्रार्थना, श्रद्धांजलि अर्पण करने का विधान बतलाया गया है, उन कृत्यों को ही खूब शांति और मनोयोगपूर्वक करना चाहिए। एकाग्रचित्त से किए हुए कर्मकांड ही वास्तव में परलोक में कुछ प्रभावशाली हो सकते हैं। केवल जोर-जोर से शुद्ध-अशुद्ध मंत्रों का उच्चारण करते रहना और अपना ध्यान वेदी पर रखी जाने वाली दक्षिणा के पैसों पर लगाए रखने से मृतात्मा की कोई भलाई नहीं हो सकती।

मृतक के लिए शोक करने का गलत तरीका—किसी की मृत्यु होने के अवसर पर हिंदू घरों में जिस प्रकार शोक मनाया जाता है वह भी एक गलत और हानिकारक ढंग है। ज्ञानीजनों का तो कथन है कि मानव जीवन ईश्वर की एक धरोहर की तरह है इसलिए जब कभी वह इसे वापस ले उसमें किसी प्रकार का शोक या खेद करने की आवश्यकता नहीं। यह ठीक है कि इस प्रकार का मोहमाया शून्य मनोभाव रख सकना साधारण संसारी मनुष्यों के वश से बाहर की बात है। फिर भी मृत्यु पर बहुत अधिक रोना-पीटना और माथा-छाती कूटना कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं है। लोग समझते हैं कि ऐसा करने से मृतक के प्रति हमारा प्रेम प्रकट होता है, पर अन्य दर्शकों को इसमें दिखावे का भाव ही जान पड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि किसी अत्यंत निकट आत्मीय के मरने से वास्तव में बड़ा धक्का लगता है, तो उस समय उससे अधिक रोया भी नहीं जाता वरन मन का शोकोद्गार भीतर ही रह जाता है।

दूसरी वर्जनीय बात यह है कि जो लोग किसी आत्मीय के प्राण निकलते समय वहीं पर बहुत अधिक रोना-पीटना करते हैं, वे परलोक यात्रा करने वाले व्यक्ति के मार्ग में बाधक बनते हैं। उस समय उस व्यक्ति की आत्मा इस लोक को छोड़ते हुए अपने जीवनभर के कर्मों का लेखा-जोखा करती है और आगामी जीवन की संभावनाओं पर भी विचार करती है। ऐसे समय में यदि उसके निकट ही रोना-पीटना करके उसकी शांति को भंग किया जाएगा तो इससे अवश्य ही उसकी यात्रा में बाधा पड़ेगी और उसका भविष्य बिगड़ेगा। इस अवसर पर तो हमको पूर्ण शांत रहकर धर्म ग्रंथों आदि का पाठ करके

उसके शांतिपूर्वक प्रयाण कर सकने का वातावरण उत्पन्न करना चाहिए, जिससे वह आशा और विश्वास के साथ नये जीवन में प्रविष्ट हो और तदनुसार उत्तम फल प्राप्त कर सके।

यह भी एक स्मरणीय विषय है कि अधिकांश मनुष्यों को अपने परिवार, धन, संपत्ति, इष्ट-मित्रों में जरूरत से ज्यादा मोह रहता है और मरते समय वे उनके वियोग में व्याकुलता का अनुभव करते हैं। ऐसे अवसर पर यदि उनके संबंध में अधिक रोना-धोना करते हैं तो उनका मोह का भाव और अधिक भड़कता है तथा वे उन सबको छोड़ने में अधिक व्याकुलता का अनुभव करते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी आत्मा शीघ्र अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर नहीं हो पाती वरन अपने घर तथा परिवार के मोह बंधन में जकड़ी हुई वहीं आस-पास बनी रहती है। यह भी एक अनुचित और हानिकारक बात है। आत्मा को तो अंत में अपने निर्दिष्ट स्थल पर जाना ही होगा और उसका पृथ्वी पर मौजूद अपने संबंधियों से संबंध टूटेगा ही। पर इस समय इस प्रकार मोह का बंधन दृढ़ होने से आत्मा उच्चगति में जाने के बजाय बहुत समय तक निम्नगति में ही बनी रहती है और उसकी सदगति होने में बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है।

वैसे भी आजकल अनेक जातियों में किसी के देहांत हो जाने के पश्चात रोना-पीटना या स्यापा कई दिन तक चलता है, वह किसी दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। उसमें प्रायः ऐसी स्त्रियाँ मृत व्यक्ति के लिए घंटों तक रुदन करती रहती हैं जिनको उससे न तो मोह होता है, न किसी प्रकार का संबंध होता है। ये स्त्रियाँ इस प्रकार छाती पीट-पीटकर रोती हैं कि उससे स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ता है। कभी-कभी तो जाति में अधिक मृत्यु हो जाने पर उनको दिन में एक से अधिक बार भी यह कृत्य करना पड़ता है। यद्यपि यह शोक प्रदर्शन बिलकुल दिखावटी होता है।

मृतक के परिवार की सहायता करें—यदि इस समस्या पर सामाजिक हित की दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो अधिक सही तरीका यह जान पड़ता है कि लोग ऐसे अवसर पर अधिक शोक और सहानुभूति का भाव प्रकट करने के बजाय मृतक के परिवार को सब तरह से धैर्य बँधावें और उसकी सहायता करने को

तत्पर हों। वास्तव में किसी समय जातियों का संगठन इस उद्देश्य से भी किया गया था कि हर्ष, विषाद और कठिनाइयों के अवसर पर जाति वाले एकदूसरे को सहयोग देकर परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करें। कितने ही परिवारों में जब कमाने वाले एकाकी व्यक्ति की कुसमय में मृत्यु हो जाती है तो वास्तव में उसके आश्रित व्यक्तियों के सम्मुख अंधकार छा जाता है कि जीवन निर्वाह कैसे होगा? ऐसे अवसर पर जाति के पंच चौधरी या मुखिया बनने वाले किसी भी रूप में उस विपत्तिग्रस्त परिवार की सहायता को आगे बढ़ें और उसके बचे हुए साधनों तथा जातीय सहायता द्वारा ऐसी व्यवस्था करें जिससे उनका जीवन निर्वाह संभव हो जाए तो यह निस्संदेह प्रशंसनीय बात समझी जाएगी। ऐसा होने से विभिन्न जातियों का अस्तित्व कुछ अंशों में सार्थक माना जा सकता है।

यदि विभिन्न जातियों के मुखिया इस प्रकार का शुभ संकल्प करके एक जातीय फंड की स्थापना करें और सामर्थ्यवान व्यक्ति मृतक भोज के लिए खरच होने वाले धन को उस फंड में दान स्वरूप जमा करके उसको पुष्ट करें तो निस्संदेह यह एक लाभकारी कार्य माना जा सकता है। इस धन के द्वारा जाति के असहाय और असमर्थ व्यक्तियों की अनेक प्रकार से सहायता की जा सकती है। आकस्मिक घटनाओं के समय आपत्तिग्रस्त जातीय सहायता पहुँचाना तो इससे संभव होगा ही साथ ही शिक्षा व्यवस्था, बीमारी आदि के लिए विशेष कार्यक्रमों की भी पूर्ति भी की जा सकती है। अब भी पारसी जाति के दूरदर्शी व्यक्तियों ने अपने समाज में इस प्रकार के फंड की स्थापना कर रखी है और उसके द्वारा वे जातीय कल्याण की अनेकों उपयोगी प्रवृत्तियों का संचालन करते रहते हैं। इस सुव्यवस्था के परिणामस्वरूप किसी पारसी को कभी आपत्ति या गरीबी के कारण दर-दर का भिखारी नहीं बनना पड़ता। अवसर पड़ने पर वह हर प्रकार की विपत्ति से छुटकारा पाने के लिए अपनी जातीय निधि से सहायता प्राप्त कर सकता है और कुछ समय में पुनः अपने पैरों पर खड़ा होकर अपनी स्थिति को सुधारने में समर्थ हो जाता है।

और भी कई जातियों में ऐसी प्रथा प्रचलित की गई है कि जिस व्यक्ति के कोई पुत्र या निकट उत्तराधिकारी न हो, वह अपने

घर में अकेला हो तो, वह जीवितावस्था में ही लिखा-पढ़ी करके अपनी स्थावर या जंगम संपत्ति को पंचायती मंदिर को दान कर जाते हैं। इस प्रकार से कालांतर में मंदिरों के पास काफी जायदाद और संपत्ति एकत्रित हो जाती है जिससे वे अनेक समाज हितकारी कार्य कर सकते हैं। यह सच है कि वर्तमान समय में ऐसे मंदिर अपना कार्यक्रम प्रायः धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखते हैं, पर यदि हम धर्म की व्यवस्था को विस्तृत रूप दे दें और जिस प्रकार कुछ धार्मिक संस्थाएँ शिक्षा, चिकित्सा, उद्योग आदि के संबंध में उल्लेखनीय कार्य कर रही है उसी का अनुकरण करने लगें तो कुछ ही समय में समाज की काया-पलट हो सकती है। अब समय आ गया है कि हम अपने धन को बिना सोचे-समझे व्यर्थ के दिखावे या मूढ़तापूर्ण रस्मों की पूर्ति में खरच करने के बजाय ऐसे तरीके से खरच करें जिससे उनके द्वारा देश और जाति का अधिक से अधिक हित हो सके और अभाव ग्रस्त लोगों को अपनी स्थिति सुधारने में किसी प्रकार की सहायता प्राप्त हो सके।

यदि हम एक मृतकभोज का औसत व्यय पाँच हजार रुपया भी मान लें और इस पचासी करोड़ की आबादी वाले देश में प्रति वर्ष एक लाख मृत व्यक्तियों के लिए ऐसे भोज दिए जाते हों, तो यह रकम कई अरब तक पहुँच जाती है। इतनी बड़ी धनराशि को यदि उचित व्यवस्था के साथ एकत्रित करके देशहित के कार्यों में लगाया जाए तो उससे कुछ ही समय में हमारे सैकड़ों अभावों की पूर्ति हो सकती है और भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था में जमीन-आसमान का अंतर पड़ सकता है। इस धन से यदि शिक्षा संस्थाओं का विस्तार ही किया जाए तो कम से कम एक लाख नए स्कूल चलाए जा सकते हैं। जिनमें दो-तीन करोड़ विद्यार्थी प्रतिवर्ष शिक्षा पा सकते हैं। यदि पुस्तकालय, प्रौढ़ पाठशालाएँ, व्यायाम-शालाएँ आदि की स्थापना की जाए तो भी देशभर में इनका जाल फैल सकता है और करोड़ों व्यक्तियों को बौद्धिक तथा शारीरिक उन्नति कर सकने के साधन प्राप्त हो सकते हैं। यदि इसका उपयोग किसी प्रकार के उद्योग धंधों के विस्तार में किया जाए तो कितनी ही आवश्यक वस्तुओं का निर्माण होने लग सकता है और लाखों

व्यक्तियों को रोजगार मिल सकता है। भारतवर्ष में अब भी करोड़ों लोगों का स्तर इतना नीचा और आर्थिक हीनता का है कि उनको इच्छा करने पर भी जीवन में आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिलता। यदि हम मृतक भोजों में प्रतिवर्ष खरच की जाने वाली अरबों रुपये की रकम का सदुपयोग करने लग जाएँ तो अनेक ऐसे कार्यों का श्री गणेश हो सकता है जिनमें लाखों व्यक्तियों को काम करने का अवसर मिल सकता है और वे अपने विकास तथा उन्नति के साधन पाकर जीवन को सार्थक बना सकते हैं।

जब हम संसार के अन्य देशों की सामाजिक प्रथाओं से अपनी प्रथाओं की तुलना करते हैं तो स्पष्ट प्रकट होता है कि हमारे यहाँ साधारण संस्कारों में भी उनकी अपेक्षा बहुत अधिक खरच किया जाता है और वह भी बड़े निरुपयोगी ढंग से। इंग्लैंड, अमेरिका आदि के व्यक्ति भी मरणोपरांत बड़ी-बड़ी रकमें खरच करते हैं, पर उनका उद्देश्य चंद लोगों को पूरी मिठाई खिलाना नहीं होता वरन वे उसका उपयोग प्रायः समाज हितकारी कार्यों के लिए ही करते हैं। वहाँ पर मृत्यु के अवसर पर दिए गए दान से हजारों बड़े-बड़े अस्पताल चल रहे हैं, जिनमें करोड़ों व्यक्तियों को कष्ट के समय सहायता प्राप्त होती है। हजारें स्कूलों को भी ऐसी सहायता दी जाती है उनके द्वारा वे निरक्षरता तथा अविद्या के उन्मूलन में उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं। एक धनी व्यक्ति की स्मृति में बहुत बड़ी धनराशि लगाकर दस हजार कृत्रिम फेंफड़े मरीजों को उधार दिए जाते हैं। इनकी सहायता से ऐसे व्यक्ति जिनकी मृत्यु श्वांस संबंधी रोग से एक-दो महीने में ही हो जाती कई वर्ष तक जीवित रहकर अपना कारवार नियमित रूप से करने में समर्थ हो जाते हैं। उनकी मृत्यु के उपरांत वे फेंफड़े मूल संस्था को लौटा दिए जाते हैं और तब वे किसी अन्य मरीज की प्राणरक्षा के लिए प्रयुक्त होते हैं।

इसी प्रकार एक अन्य उद्योगपति की स्मृति के उपलक्ष्य में एक ऐसी निधि स्थापित की गई है जिससे विभिन्न देशों के कई हजार चुने हुए होनहार विद्यार्थियों को प्रतिवर्ष बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं, जिनकी सहायता से वे अमेरिका जाकर किसी विशेष कला, विज्ञान या कारीगरी की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इस पवित्र

दान के फलस्वरूप भारतवर्ष के भी सैकड़ों विद्यार्थी, जो सामान्य स्थिति के थे लाभान्वित हो चुके है और अमेरिका में इंजीनियरिंग, विद्युत, यंत्र विज्ञान या किसी अन्य उपयोगी विषय की शिक्षा प्राप्त करके बड़े-बड़े पदों पर कार्य करने में समर्थ होते हैं। कुछ लोगों ने अपना नाम कायम रखने के लिए ऐसी संस्थाएँ कायम करा दी हैं, जिनके द्वारा बेकार लोगों की सहायता की जाती है और उनको सदा के लिए भिखारी अथवा पराश्रित बनने से बचाकर सामयिक सहायता प्रदान की जाती है और उनके लिए कुछ ही महीनों में कोई काम ढूँढ़कर फिर से समाज का उपयोगी सदस्य बना लिया जाता है। उन देशों में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिन्होंने अपनी स्मृति के लिए लाखों-करोड़ों रुपये दान करके व्यायामशालाएँ, स्वास्थ्यप्रद खेल, शक्ति और साहस संबंधी प्रतियोगिताएँ, पर्वतों के अभियान, अगम्य प्रदेशों का अन्वेषण जैसे मानव सभ्यता को अग्रगामी बनाने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ाने की व्यवस्था की है। हम सदैव जो अनेक साहसी विदेशी व्यक्तियों के ज्ञानवर्द्धक अन्वेषणों, पर्यटकों के साहसपूर्ण अभियानों की कथाएँ पढ़ते रहते हैं, वे सब ऐसे ही देशकाल के अनुकूल मरणोत्तर क्रिया करने वाले विवेकशील व्यक्तियों की करनी का परिणाम होते हैं।

इसके मुकाबले में एक हम हैं जो अपने किसी सम्माननीय व्यक्ति की मृत्यु होने पर दो-चार सौ अथवा हजार-पाँच सौ व्यक्तियों को पकवान या खीर-पुआ की दावत, धन और अन्न की बरबादी करते हैं। इस तरह की दावतों में कई सौ मन अन्न एक दिन में खरच हो जाता है और उस समय खाने वालों की जो भावना होती है, उससे उसका अधिकांश नष्ट ही होता है। भोज के अतिरिक्त जिनके पास अधिक साधन हुए तो वे किसी पंडा, पुजारी या महाब्राह्मण को दो-चार हजार या इससे भी अधिक की सामग्री दान कर देते हैं जिसमें से अधिकांश उसके किसी काम नहीं आती और औने-पौने दामों में बेचकर ठिकाने लगानी पड़ती है। हमने एक बड़े तीर्थ में अवध के एक राजा को देखा जो अपनी मरणोत्तर क्रिया स्वयं ही करने के रूप में एक पंडा को भोजन सामग्री, कपड़े और बरतनों से लेकर हाथी-घोड़े तक दान दे रहा था। कहा गया कि वह समस्त सामग्री सवा लाख

रुपये के करीब मूल्य की है और वह राजा पंद्रह-सोलह तीर्थों में ऐसा ही दान कर चुका है या करने का संकल्प कर चुका है। जिस वंशगत पंडे को वह दान दिया गया, वह बहुत साधारण स्थिति का था, उसके छोटे से खपरैल के मकान में न घोड़े को जगह थी, न हाथी को और न उसमें पालकी और घोड़ा गाड़ी ही रखी जा सकती थी। अंत में वह कुछ समय में सब चीजों को बेचकर खा गया और दो-चार वर्ष में उस रकम को बरबाद करके फिर जैसा का तैसा गंगा किनारे हाथ फैलाकर माँगने और खाने वाला बन गया।

जो लोग इस प्रकार दस-पाँच घंटे का दिखावा करने की मूर्खता से आगे बढ़कर कुछ अधिक बुद्धिमानी का परिचय देते हैं वे इस प्रकार की रकम को किसी मंदिर आदि के रूप में परिवर्तित कर देते हैं और उसके नाम कोई ऐसी जायदाद कर देते हैं जिससे नियमित आमदनी होती रहे। पर यह धन भी प्राय: मंदिरों की पूजा, भोग उत्सव, नाच-गाना आदि में खरच किया जाता है। उससे किसी व्यक्ति या समाज का उपकार होने के बजाय कुछ लोगों का जीवन निकम्मा ही बनता है। जिन्होंने ऐसे मंदिरों में रहने वाले लोगों के वार्तालाप को सुना है। स्पष्टत: यही अनुभव करते हैं कि वर्तमान समय में यह मंदिररूपी संस्था लोगों का उत्थान करने के बजाय उनके अध:पतन का कारण बन गई है और उसके फलस्वरूप समाज में अनैतिक और हानिकारक प्रवृत्तियों की ही वृद्धि होती है।

इसमें संदेह नहीं कि यह मंदिररूपी संस्था बड़ी उपयोगी थी और हमारी समस्त सामाजिक हलचलों तथा कार्यक्रमों का केंद्र उन्हीं को माना जाता था। प्रत्येक मंदिर में एकाध पाठशाला होती थी जिसमें छोटे-बड़े विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। वर्मा में तो अब भी प्रत्येक बौद्ध मंदिर में रहने वाला भिक्षु अपने अवकाश के समय को गाँव के बालकों को पढ़ाने में ही लगाया करता है जिसका परिणाम यह है कि उस देश के ग्रामीणों में भी निरक्षरों की संख्या नाममात्र को है। मंदिरों में प्रात: और सायंकाल शास्त्रों का स्वाध्याय या कथा-प्रवचन आदि होते थे जिनको बहुसंख्यक व्यक्ति श्रवण कर अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्राप्त करते थे। कितने ही मंदिरों में दवादारू बाँटने का भी इंतजाम होता था और असमर्थ रोगी उन्हीं के द्वारा

आरोग्य लाभ कर लेते थे। मंदिरों की तरफ से जो वार्षिक उत्सव, मेले होते थे अथवा बड़े त्योहारों पर जो सार्वजनिक समारोह किए जाते थे, उनमें जगह-जगह के व्यवसायी आकर उद्योग धंधों द्वारा प्रस्तुत पदार्थों का क्रय-विक्रय करके देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाते थे। साथ ही उन अवसरों पर विभिन्न स्थानों के व्यक्ति परस्पर विचार-विनिमय करके सार्वजनिक विषयों के संबंध में निर्णय करते थे जिससे धर्म और समाज को एकरूपता प्राप्त होती थी। ऐसी उपयोगी और लोक-कल्याणकारी संस्था होने के कारण ही मंदिरों को उस समय बहुत ऊँचा और सम्मानास्पद स्थान प्राप्त हुआ था। आज भी मंदिरों को जो साधारण की श्रद्धा तथा सहयोग प्राप्त है, वह उस समय के कार्यों तथा ख्याति का परिणाम है। यदि अब भी हम इन देवस्थानों को पुन: सार्वजनिक हितकारी कार्यों के केंद्र बना दें तो फिर गौरवशाली स्थान को प्राप्त कर सकते हैं और जन-जीवन के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भाग ले सकते हैं।

सारांश यही है कि अपनी सामर्थ्य और स्थिति के अनुसार मृत व्यक्ति के प्रति अपनी श्रद्धा अवश्य प्रकट करें, पर उसमें समयानुकूल और विवेकशीलता का ध्यान रखना न भूलें। कोई भी कार्य क्यों न हो, उसके भले-बुरे होने का निश्चय उसके नतीजों को देखकर ही किया जा सकता है। हम मृतक भोज की वर्तमान प्रणाली का निषेध इसलिए करते हैं क्योंकि उसमें कोई सार नहीं है और न किसी का उसके द्वारा वास्तव में हितसाधन होता है। क्योंकि वर्तमान समय में जातियों का प्राचीन संगठन टूट चुका है, उनमें पेशे, शिक्षा, वेश आदि की एकरूपता नहीं पाई जाती और न वह संगठन तथा सहयोग का भाव शेष है जिसके लिए किसी समय उनका प्रादुर्भाव हुआ था। इसलिए अब जातीय नियम के नाम पर केवल मृतक भोज जैसी व्यय करने वाली और अनेक संकटों को जन्म देने वाली प्रथाओं को जीवित रखना बुद्धिमत्ता का परिचायक नहीं है। उनको समयोचित उपयोगी रूप देना नितांत आवश्यक है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मृतक संस्कार एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक प्रक्रिया है, जिसमें दिखावट या कृत्रिमता का भाव रहना न तो हमारे लिए और न हमारे दिवंगत स्वजन के लिए लाभदायक हो

सकता है। उस अवसर पर हमको पूरी सात्विकता, शुद्धता और सत्य का परिचय ही देना चाहिए और अपने मन में या काम में कोई ऐसा भाव न आने देना चाहिए जिससे मृतात्मा का अनिष्ट हो। वर्तमान समय में जो मृतक भोज किए जाते हैं, वे सर्वथा लौकिक दृष्टि से होते हैं और उनमें दिखावा, नामवरी और कभी-कभी किसी प्रत्यक्ष स्वार्थसिद्धि की भावनाएँ भी सम्मिलित होती हैं। ऐसे अवसरों पर अनेक बार घर वालों में या सगे-संबंधियों में मतभेद भी हो जाते हैं और उनके कारण जो मनोमालिन्य उत्पन्न होता है उससे बहुत समय तक तरह-तरह के कुपरिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। ये बातें मृतात्मा के कल्याण की दृष्टि से अनुचित ही होती हैं। इसलिए यदि मृतक संस्कार को धार्मिक विधि-विधान और यथाशक्ति निःस्वार्थ भाव से दान-पुण्य तक ही सीमित रखा जाए तो वह प्रशंसनीय माना जाएगा।

यह समय बड़े व्यापक परिवर्तनों का है और संसार के उन्नतिशील देशों के निवासी जल, थल और आकाश में अपना पूरा अधिकार जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे प्रकृति की गूढ़ शक्ति का स्वामित्व प्राप्त करके ऐसे-ऐसे कार्य करके दिखा रहे हैं जो अभी तक असंभव समझे जाते थे। यदि हम कहें कि इस समय संसार की कायापलट हो रही है और एक नई दुनिया का निर्माण हो रहा है, तो इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं है। ऐसे समय में मृतकभोज जैसे सामयिक रीति-रिवाजों को जो पिछले दो सौ वर्षों के अधःपतन के युग में ही भ्रमवश प्रचलित हो गई हैं, अधिक महत्त्व देना और परिस्थिति के पूर्णतः बदल जाने पर भी उससे चिपटे रहने का प्रयत्न करना हमारी बुद्धिहीनता का ही प्रमाण है। इस समय जब कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण देश में अन्न का अभाव निरंतर बढ़ता जा रहा है और लोगों को भूखों मरने से बचाने के लिए समय-समय पर हजार कोस की दूरी पर विदेशों से अनाज मँगाना पड़ता है, तब मृतक भोज जैसे खाद्य पदार्थों की बरबादी करने वाली प्रथा को बनाए रखना बुद्धिहीनता ही कही जाएगी।

वास्तव में मृतक संस्कार एक ऐसा स्वाभाविक और अनिवार्य कर्म है जो सभी जातियों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। यह

ख्याल करना कि हम हिंदू ही मृतक की सद्गति का सबसे अधिक ध्यान रखते हैं ठीक नहीं है। मुसलमान भी अपने मुरदों का जनाजा निकालते हैं और हम कह सकते हैं कि वे लोग मृतक संस्कार में हमसे अधिक ही खरच करते हैं। उनके कफन का कपड़ा हमारी अपेक्षा १५-२० गुना अधिक होता है। ईसाई भी अपने मृतकों का संस्कार ताबूत बनाकर करते हैं, जिसमें कम से कम ढाई सौ रुपये तो लगते ही होंगे। पारसी चाहे अपने दार्शनिक विचारों के कारण मुरदे को जलाने या गाड़ने के बजाय पक्षियों के आहार के लिए दे देते हैं, पर वे भी अपने सम्मान के व्यय में कमी नहीं करते। जापानी लोगों ने तो अपना धर्म ही पूर्वज पूजा बना लिया है और वे आजीवन उनके स्मारक चिन्हों की पूजा-उपासना किया करते हैं।

इस प्रकार संसार के सभी लोग अपने-अपने विचार और धर्म सिद्धांतों के अनुसार मृतकों की अंतिम क्रिया करते हैं। जंगली लोग भले ही उनको फूँक देते हों या भक्षण भी कर लेते हों। पर सब लोग इस अवसर पर अपनी सामर्थ्य और परिस्थिति का ध्यान रखते हैं और मृतक संस्कार के बाद 'मृतकभोज' जैसा कोई कार्य नहीं करते जिसका कोई औचित्य नहीं और जिसके कारण उनकी आर्थिक स्थिति पर कुप्रभाव पड़े। उन लोगों को तो यह बात आश्चर्यजनक जान पड़ती है कि किसी जाति वाले अपने घर में किसी के मर जाने पर हर्षोत्सव के समान मनावें तथा परिचितों को मिठाई या पकवान खिलाए जाएँ। योरोप, अमरीका के व्यक्ति मरणोपरांत अपनी स्मृति के लिए लाखों-करोड़ों का दान कर जाते हैं जिससे सदैव लाखों व्यक्ति लाभ उठाते हैं। इसी निमित्त वे बड़ी-बड़ी संस्थाएँ स्थापित कर जाते हैं जिनसे लाखों व्यक्तियों का कल्याण होता है, पर उनमें से कोई भी अपने मरने के बाद दस-बीस हजार रुपया लगाकर दो-चार सौ व्यक्तियों को खिलाने की बात नहीं सोचता।

हमारे देश के बड़े लोगों में भी अब वसीयतनामा लिखने की प्रथा प्रचलित होती जा रही है। अच्छा तो यह है कि वे स्वयं अपनी संपत्ति का एक भाग लोकोपकारी संस्थाओं तथा अन्य कार्यों के लिए दान कर जाएँ और साथ ही यह भी लिख जाएँ कि मरने के पश्चात उनके नाम पर मृतक भोज या ब्रह्मभोज जैसा कोई कार्य न

किया जाए। इससे जहाँ वे धन का सदुपयोग करके सुयश के भागी बनेंगे, वहाँ दूसरे लोगों के लिए एक उदाहरण बनकर एक हानिकारक सामाजिक प्रथा को रोकने में भी सहायक माने जाएँगे। आजकल तो अधिकांश गरीब लोगों को इस प्रथा का पालन अनिच्छापूर्वक करना पड़ता है, क्योंकि उनके पास इतना फालतू पैसा नहीं होता कि वे मृतकभोज या 'कारज' बिना किसी दिक्कत के कर सकें। पर लोक-लाज वश उनको कर्ज लेकर अपना घर बाहर गिरवी रखकर अपनी कोई आवश्यक वस्तु बेचकर भी इस रूढ़ि का पालन करना पड़ता है। इस तरह की परंपरा न तो मुनष्य की बुद्धिमत्ता की परिचायक है और न किसी प्रकार उसे लाभान्वित कर सकती है।

हमारा कर्त्तव्य है कि अब इसमें समयानुकूल परिवर्तन करें और हमें मृतात्मा के उपलक्ष्य में जो कुछ व्यय करना हो तो उसे ऐसे ढंग से करें जिससे देश और समाज की भलाई हो और हमारी निजी अर्थव्यवस्था पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़े।

शायद कोई जमाना ऐसा रहा हो जब घर के प्रमुख व्यक्ति के मर जाने पर समाज के या उस विशेष समुदाय के सदस्य मृतक के परिवार को सहायता और आश्वासन देने के लिए एकत्रित होते हों और जिस बात की जरूरत हो उसमें सहयोग देकर काम को बना देते हों। हमने देखा है कि अब भी कितनी ही जातियों में ऐसे अवसर पर बहुसंख्यक व्यक्ति इकट्ठे होते हैं और किसी रस्म के नाम पर दो-दो रुपया देते चले जाते हैं। इस प्रकार जितना उनको खिलाने में लगता है उससे अधिक वे दे जाते हैं जिससे अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में सहायता मिलती है। कुछ स्थानों में आपस के लोग थोड़ा-थोड़ा एकत्रित करके भोज की व्यवस्था करते थे। यह एक प्रकार का सहयोग होता था, जिसका उद्देश्य निकटवर्ती संबंधियों और जातीय व्यक्तियों को मिलकर परिस्थिति पर विचार-विनिमय करना होता था। उस समय इस प्रकार सामूहिक आयोजनों का मुख्य उद्देश्य खाना-पीना न होकर पारस्परिक मिलन और एकदूसरे की जानकारी प्राप्त करके सहयोग की वृद्धि करना होता था। याद रखना चाहिए कि उस समय आवागमन और समाचारों के

भेजने की सुविधा बहुत कम होने से लोग सौ-पचास मील के क्षेत्र की परिस्थितियों से भी सहज में परिचित नहीं हो पाते थे।

पर अब वे सब बातें बदल चुकी हैं। तरह-तरह के नए साधनों और परिवर्तनों के फलस्वरूप आजकल सामान्य मनुष्य भी देशभर की घटनाओं को सुनते और समझते रहते हैं। अब बड़े मृत्यु भोजों का परिणाम सिवाय धन तथा समय के अपव्यय के कुछ नहीं होता। अब अधिकांश मनुष्य अपने-अपने कामों में और समस्याओं में इतने व्यस्त होते हैं कि इस काम के लिए दो-चार घंटा खरच करने में भी वे लाभ के बजाय घाटे में ही अधिक रहते हैं। फिर वर्तमान समय में सब चीजों की महँगाई, नकली वस्तुओं का प्रचलन, प्रत्येक खाद्य सामग्री में मिलावट, शुद्ध वस्तुओं के मिलने में कठिनाई ऐसी बातें हैं, जिनसे इस प्रकार के भोजों में भाग लेना स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकारक होता है। हम समाचारपत्रों में समय-समय पर ऐसी घटनाएँ भी पढ़ते रहते हैं कि अमुक भोज के पश्चात उसमें भाग लेने वाले सौ, दो सौ व्यक्ति एकाएक बीमार हो गए जिनमें से कुछ मर भी गए। यह सब खाद्य सामग्रियों के दूषित होने का परिणाम होता है, जिसकी आशंका बड़े भोजों का आयोजन करने में बहुत बढ़ जाती है। इस दृष्टि से मृत्यु भोज की प्रथा वर्तमान समय में हर तरह से हानिकारक ही प्रतीत होती है।

□

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।